प्रतिक्रमण का मर्म

श्री जसराज चौपड़ा

प्रतिक्रमण स्वशुद्धि की एक विधा है। ज्ञात-अज्ञात रूप से हम अतिक्रमण की अनेक क्रियाएँ करते हैं जिनसे दूसरों को कष्ट पहुँचता है एवं अपनी आत्मा मलिन बनती है। प्रतिक्रमण का मर्म है स्वकृत दोषों की सरलमन से आलोचना एवं प्रायश्चित्त कर शुद्धि कर लेना। साधक स्वीकृत व्रतों का उल्लंघन होने पर तत्काल प्रतिक्रमण कर स्वनियम में पुनः स्थित हो जाता है। वह स्वालोचना, स्वनिन्दना, स्वगर्हणा द्वारा स्वात्मशुद्धि कर अपने को निष्पाप बना लेता है। माननीय न्यायाधिपति महोदय ने जीवन में प्रतिक्रमण के माध्यम से दोषमुक्त बनने की प्रभावी प्रेरणा की है। *-सम्पादक*

प्रतिक्रमण जैनधर्म की अनूठी, अनुपम एवं आत्म-विशुद्धि की यानी आत्मा को विमल एवं निर्मल बनाने की मौलिक विधा है, जिसके तुल्य कोई विधि-विधान अन्यत्र किसी भी धर्म में इस रूप में प्राप्त नहीं होता। चाहे साधु-साध्वी हों अथवा श्रावक-श्राविका या सामान्य संसारी, इनमें से कोई भी इस कलिकाल में अथवा परम पूज्य जम्बूस्वामी के बाद केवलज्ञान का धारक सर्वज्ञ नहीं है। सभी छद्मस्थ हैं और अपूर्ण हैं। अतः गलती या स्खलना, किसी अन्य के प्रति खेद-विक्षोभ पैदा करने वाला व्यवहार अथवा विचार आना सर्वथा संभव है।

किसी का बुरा करना, किसी के बारे में बुरा सोचना, किसी को बुरा बोलना, किसी पर क्रोध करना, प्रकट रूप से किसी की निंदा-विकथा करना या अपशब्दों द्वारा दिल दुःखाना यह तो हमारे प्रकट व्यवहार एवं विचारों के परिणाम हैं, परन्तु कुछ ऐसे कृत्य हैं जिनसे प्रकट में ऐसा नहीं लगता कि हम किसी का बुरा कर रहे हैं या अहित कर रहे हैं, फिर भी हमारे कई ऐसे कृत्य होते हैं, जिनसे कितने ही जीवों की विराधना होती है, उन्हें दुःख पहुँचता है, कष्ट होता है, मन में क्षोभ एवं ग्लानि पैदा होती है। जिनसे प्रकट रूप से हमारा कोई दुर्भाव नहीं है, फिर भी छः काय के प्राणियों को हम कष्ट पहुँचाते हैं, जैसे-श्वास लेना, पानी पीना, चलना-फिरना, गाड़ी, स्कूटर, ट्रेन, साइकिल, बैलगाड़ी, ऊँट, घोड़े आदि से यात्रा करना, प्रशंसावश ताली बजाना, सौन्दर्य प्रदान करने हेतु पेड़-पौधों को मनचाही आकृति देना, खेती, व्यापार, उद्योग आदि कार्य अपने जीविकोपार्जन हेतु करना जिनमें हमारा उद्देश्य प्रकट रूप से किसी को दुःखी करने या कष्ट पहुँचाने का नहीं है, फिर भी जानते-अजानते हम चाहे वह वायुकाय के जीव हों, पृथ्वीकाय के हों, अपकाय के जीव हों, तेऊकाय के जीव हों या वनस्पतिकाय के अथवा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय जीव हों उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं या कष्ट न भी पहुँचाएँ तो भी उन्हें क्षोभ या खेद-ग्लानि जरूर प्रदान करते हैं। फिर चाहे वह नदी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहर या तालाब का जल स्नान हो अथवा खेती या बगीचे की कंटाई-छंटाई या पिलाई हो, या गमले की खुर्पी हो, गाय-भैंस का दुग्ध दोहन हो, या भोजन पकाने हेतु जलाई अग्नि हो या कचरे व झाड़-झंखाड़ को नष्ट करने हेतु जलाई अग्नि हो। यह निश्चित है कि छद्मस्थ से ऐसे अतिक्रमण जानते-अजानते होना संभव है, जिनसे दूसरे को कष्ट पहुँचे, उसको दुःख पहुँचे, उसका दिल दुःखे अथवा उसे क्षोभ या ग्लानि पैदा हो।

जैन धर्म में व्रती व्यक्ति के मर्यादित व्यवहारों के अतिक्रमों के प्रति स्व-शुद्धि हेतु प्रतिक्रमण का विधान है। यह विधा स्व-शुद्धि की विधा है। स्वशुद्धि का एक अंग है क्षमा। इसमें दूसरा क्या महसूस करता है, वह क्षमा प्रदान करता है या नहीं, इसका उतना महत्त्व नहीं है। मूल में प्रतिक्रमण का अर्थ या मर्म है "स्वात्मशुद्धि"। यहाँ द्वैत का भाव नहीं है। हमने जो भी गलती की या अप्रिय कार्य या विचार किया हो अथवा हमारी वजह से किसी को दुःख, कष्ट, खेद या विषाद पैदा हुआ हो अथवा होने की स्थिति होने पर भी उस प्राणी की समभाव की स्थिति या अनासक्ति के कारण ऐसा न भी हुआ हो तो भी हम अपनी तरफ से उक्त सारे अतिक्रमों की निंदा-गर्हा व आत्मालोचना कर अपनी आत्मा को शुद्ध कर लें।

जैनधर्म की मान्यता है कि व्यक्ति को अपने अतिक्रमी व्यवहार का पता लगते ही उसका तुरन्त प्रतिक्रमण करना चाहिए। जिसके प्रति गलत व्यवहार हो उससे क्षमा माँग कर अथवा जो प्राणी अपने भावों को व्यक्त न कर सकें या जिनके प्रति मन में दुर्भाव आएँ या विचार उत्पन्न हों, जिनका उसको प्रकट में पता भी न लगे, उन्हें तुरन्त गुरुदेव के समक्ष प्रकट कर उस दोष के लिए स्वयं को धिक्कार प्रदान कर गुरुदेव से दंड प्राप्त करना चाहिए। जो दोष हमारे खुद के भी ध्यान में न आयें अथवा जो स्वाभाविक रूप से हो रहे हैं और हम उनकी तरफ सोचते नहीं हैं, दिवस के उन दोषों का देवसिय प्रतिक्रमण करें। रात्रिकालीन दोषों, स्वप्न आदि में किये दुर्विचारों व दुष्कृत्यों आदि का राइय (रात्रिकालीन) प्रतिक्रमण प्रभातवेला में करें। ऐसा संभव न हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण करें। वह भी न हो पाये तो चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करें एवं स्वयं को उन दोषों, दुष्कृत्यों एवं दुर्विचारों से मुक्त करें। यह भी संभव न हो तो प्रत्येक जैन श्रावक को बारहमासिक संवत्सरी प्रतिक्रमण तो अवश्य करके अपने को दोषमुक्त करना चाहिए। दोषमुक्ति की यह क्रिया दिल से हो ताकि जो दोष एक बार हो गया है एवं जिसे हमने निंदा-गर्हा कर स्वयं को धिक्कार प्रदान किया है उस दोष की पुनरावृत्ति न करें अन्यथा यह प्रतिक्रमण मात्र औपचारिकता बन कर रह जायेगा। दोषों की निंदा, गर्हा व दोष के लिए स्वयं को धिक्कारने की क्रिया शुद्ध मन से करने पर कभी औपचारिक नहीं हो सकती, क्योंकि भावना दोष-मुक्ति एवं स्वात्मशुद्धि की है, जिनका औपचारिकता से कोई लेना देना नहीं है। यदि प्रतिक्रमण करके भी फिर उन्हीं दोषों की पुनरावृत्ति करें तब तो वही कहावत चरितार्थ होगी कि "मक्का गया, हज किया व बनकर आया हाजी। आजमगढ़ में घुसते ही फिर वही पाजी का पाजी।" ऐसा प्रतिक्रमण मायाचार है, ढोंग है, जिसे प्रतिक्रमण की संज्ञा प्रदान करना भी प्रतिक्रमण के उच्च एवं पवित्र भाव के साथ खिलवाड़ और घिनौनी हरकत करना है।

प्रतिक्रमण सूत्र में श्रावक के बारह व्रतों, साधु-साध्वी के पाँच महाव्रतों के जो संभावित अतिचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष हैं उन्हें गिनाकर, अठारह पापों के सेवन से बचने, पन्द्रह कर्मादानों से किनारा करने, प्रभु-वंदन एवं गुरु-वंदन के साथ पूर्ण स्वस्थ मन से, अपने समस्त अतिक्रमों से स्व-निंदा, स्व-गर्हा व स्व-खेद प्रकट कर, उनसे निवृत्त होने की क्रिया का विधान किया गया है। मूल पाठ प्राकृत में है जिसे कुछ लोग कंठस्थ व अन्य लोगों को प्रतिक्रमण करवाते हैं। जो यह प्रतिक्रमण करवाते हैं उनमें से कुछ ऐसे भी लोग हैं जो उसका शब्दार्थ एवं भावार्थ नहीं जानते। मात्र रटी-रटाई स्मृति के आधार पर प्रायोजित विधि से उसे सम्पन्न कर देते हैं। बहुत से प्रतिक्रमण करवाने वाले मूल पाठ का शब्दार्थ एवं भावार्थ जानते हुए भी उसे अपनी नेश्राय वालों को उसका मर्म बताये बगैर उसका पठन ऐसी फ्रण्टियर मेल की स्पीड से करते हैं एवं नेश्राय वाले भी बड़े यांत्रिक ढंग से 'मिच्छा मि दुक्कडं' देकर व खमासमणो आदि कर अपने दोषों से इतिश्री होना मान लेते हैं। यह प्रतिक्रमण का मर्म या हार्द नहीं है कि उसे एक औपचारिक आयोजन बना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली जाए। वस्तुतः प्रतिक्रमण का शांति पूर्वक शुद्ध उच्चारण कर उसका शब्दार्थ, भावार्थ व मर्म अपनी नेश्राय वालों को अवगत कराकर यह आत्मशुद्धि का यज्ञ सम्पन्न किया जावे तो कई लोग इसका यथोचित लाभ उठाकर दोष मुक्त हो सकते हैं। सोचने व समझने का समय मिले बगैर दोषमुक्ति कैसे संभव है? प्रतिक्रमण की क्रिया का अपना महत्त्व है। साधक वस्तुतः पापों व दोषों से मुक्त होने के भाव से सामायिक व्रत ग्रहण कर उसमें शिरकत करता है, अतः उसे उसका कुछ अंशों में लाभ मिलेगा यह निश्चित है, परन्तु यदि प्रतिक्रमण सूत्र के शुद्ध पाठ को शांतिपूर्वक शुद्ध उच्चारण के साथ बोलकर एवं उसके भाव को समझाकर लोगों को दोष एवं पाप मुक्त होने के लिए प्रेरित किया जाये तो इसका अचिन्त्य लाभ प्रतिक्रमण करवाने वाले को भी मिलेगा एवं जो उसे कर रहे हैं उन्हें तो उसका अपूर्व लाभ होगा ही। मेरा विनम्र मत है कि प्रतिक्रमण की इस प्रक्रिया को मात्र औपचारिकता निर्वहन का माध्यम न बनाकर, इसके भावात्मक पक्ष को उजागर कर प्रतिक्रमण करवाया जाये तो इसका फल क्रान्तिकारी होगा। व्यक्ति कई पापों व दोषों को जानकर जिनसे वह अब तक अनभिज्ञ है या था वह भविष्य में उनसे बचने का हर संभव प्रयत्न करेगा। यही प्रतिक्रमण का हार्द है, मर्म है।

मैं शुरू में कह गया एवं फिर उसे दुबारा कहना चाहता हूँ कि 'प्रतिक्रमण' स्वयं द्वारा स्वयं की आत्मा को दोष एवं पाप मुक्त करने का सूत्र है। कोई बुरा माने या न माने, किसी का दिल दुःखे या नहीं दुःखे, किसी को ग्लानि या क्षोभ हो अथवा न हो, हमको अपने दोषों व पापों की स्व-साक्षी, गुरु साक्षी व प्रभु साक्षी से निंदा-गर्हा करके एवं स्वयं को ही स्वयं द्वारा धिक्कार देकर (यानी स्वालोचना कर) स्व प्रयत्नों से स्वयं को दोष मुक्त करना है। जो कहे हुए बुरे शब्दों व दुष्कार्यों की कोई प्रतिक्रिया नहीं करता, तितिक्षा भाव से उन्हें सहन कर जाता है या दोषपूर्ण व्यवहार में उत्तेजित होने के बजाय क्षमाभाव धारण करता है वह भी प्रतिक्रमण ही कर रहा है, क्योंकि वह अतिक्रमण से बच रहा है।

अतिक्रमण से बचे रहना श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है। अतिक्रमण करके फिर प्रतिक्रमण करना ऐसा ही है जैसे कि स्वयं कीचड़ में पाँव डालकर फिर स्वयं ही अपने पाँव साफ करना। ऐसा प्रतिक्रमण उपर्युक्त प्रतिक्रमण से नीची कक्षा का प्रतिक्रमण है। आपको कोई गाली दे आप उसे सुनें नहीं एवं चल दे, यह प्रतिक्रिया हीनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे सुनलें पर वापस गाली का जवाब गाली से न दें उसे सहन करलें यह तितिक्षा है। गाली देने वाले को क्षमा कर दें यह क्षमाभाव है। उसके प्रति करुणार्द्र हो, सोचें कि यह मेरी वजह से कर्मबंध कर रहा है, मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा पर यह कर्मबंध कर मेरी वजह से कर्मपाश में बंध रहा है, यह चिन्तन परमात्म भाव या भगवद्भाव है। समत्व एवं निस्पृह योग है। यह भी प्रतिक्रमण का ही रूप है। अलबत्ता यह सामान्य से उच्चकोटि का प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण से पापों, दोषों, दुष्कृत्यों एवं दुर्विचारों की इतिश्री होनी चाहिये। ऐसा न हो कि सम्वत्सरी की क्षमायाचना कर फिर वही गलतियाँ करने का ढर्रा पुनः चालू हो जावे। प्रतिक्रमण, जैसा मैं कह चुका हूँ स्वशुद्धि का प्रकल्प है। इसमें किसी अन्य का कोई महत्त्व नहीं है। हम स्वयं अपने पापों व दोषों से स्व-प्रयास द्वारा अपनी ही आलोचना कर अपने अपको दोषमुक्त करें। प्रतिक्रमण का लाभ किसी दूसरे के भाव, प्रतिक्रिया आदि पर कत्तई निर्भर नहीं है। इसीलिए मैंने शुरू में ही कहा है कि यह जैन धर्म की विधा अनुपम, अनूठी है एवं अद्वितीय है। यह स्व-पुरुषार्थ से स्वात्मशुद्धि का प्रयोग है। अतः जैसी आपकी दृष्टि है वैसी ही आपकी सृष्टि है एवं जैसा आपका विचार एवं आचार है वैसा ही आपका जीवन-सुधार है।

श्रावक-श्राविका के प्रतिदिन के करणीय छः आवश्यकों में से प्रतिक्रमण महत्त्वपूर्ण आवश्यक है। प्रतिक्रमण का हार्द व मर्म ही यह है कि की हुई गलतियों, दोषपूर्ण दुष्कृत्यों एवं पापयुक्त व्यवहार की आलोचना या प्रायश्चित्त कर उसका दंड स्वीकार कर दोषमुक्त बनना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में प्रायश्चित्त का आधार पापकर्मों से शुद्धि बताया है। प्रायश्चित्त के तीन रूप हैं- १.स्वालोचना २. स्वनिंदना ३. स्वगर्हणा। इन तीनों तरीकों को अपनाकर स्वात्मशुद्धि ही प्रतिक्रमण का मर्म है। सच्चे मन से किये गये प्रायश्चित्त से व्यक्ति के परिणाम सरल व निर्मल बनते हैं, जिससे जीवन के सारे शल्य समाप्त हो जाते हैं। फिर दुबारा ऐसे सरल व निर्मल परिणामी व्यक्ति; उस दोषयुक्त, दुष्कृत्य या पापयुक्त कर्म को दोहराते नहीं हैं। दशवैकालिक सूत्र चूलिका गाथा १२,१३, १४ के अनुसार हम निर्दोष इसलिए नहीं बन पाते कि प्रमत्तता के वशीभूत हो दोष, दुष्कृत्य, पाप या गलती करते वक्त हम उनसे बेभान रहते हैं। हमें ऐसा व्यवहार करते वक्त यह आभास ही नहीं होता कि हम कोई दोषपूर्ण प्रवृत्ति कर रहे हैं या हमारी वजह से कोई प्राणी क्लेशित या खेदित हो रहा है, उसका दिल दुःख रहा है या वह कष्ट पाकर क्लांत हो रहा है। अतएव यह सार्वकालिक सार्वभौम सिद्धान्त है कि हम दोष देखते ही तुरंत उसका निराकरण करें, उसके सुधार हेतु उसे भविष्य पर न टालें। दोष देखना उन्हें त्वरित गति से जानना एवं तत्क्षण उनका निराकरण कर आत्मा को शुद्ध, निर्मल व पावन बनाना ही प्रतिक्रमण का आधारभूत मर्म व हार्द है। सच्चा श्रावक या श्राविका वही है जो छल-कपट, मायाजाल, झूठ व फरेब तथा चालाक मनोवृत्ति को तिलांजलि देकर सर्वथा निश्छल एवं अहंकार-दंभ से मुक्त होकर सच्चे हृदय से अपने दोषों की आलोचना, निंदना-गर्हा करके आत्मशुद्धि का मार्ग प्रशस्त करे। इसी को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं। इसमें औपचारिकतावश लिए व्रत का मजबूरी में पालन करने का भाव पास भी नहीं फटक पाता। जो अत्यन्त सूक्ष्म व अप्रमत्त दृष्टि से अपनी भूलों व दोषों का अवलोकन कर उनका सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर अपनी आत्मा की शुद्धि करता है वह फिर वैसी भूल की या दोष की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुनरावृत्ति कभी नहीं करेगा। यही सात्त्विक प्रतिक्रमण का मर्म है। शास्त्र कहता है, ''अणागयं पिंडबंधं न कुज्जा'' अर्थात् हम अपने दोषों को जानकर उन्हें तत्काल सुधार लें। भविष्य पर न टालें क्योंकि वह घोर प्रमाद है। प्रभु ने क्षणमात्र के प्रमाद को भी नकारा है।

प्रतिक्रमण साधु-साध्वियों के लिये भी नित्य आवश्यक है। उन्हें भी देवसिय व राइय प्रतिक्रमण गुरु साक्षी से प्रतिदिन करके, अपने दोषों को गुरु के समक्ष सरल मन से प्रकट कर प्रायश्चित्त दंड प्राप्त करके त्वरित गति से अपने संयमी जीवन को स्खलनामुक्त व शल्यमुक्त बनाना चाहिये। प्रभु ने फरमाया है 'निःशल्यो व्रती'। व्रती वही है जो शल्य रहित है। इसमें भी महाव्रती तो सदैव निःशल्य व निर्ग्रन्थ (गाँठ रहित) होना ही चाहिये। आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक चूलिका २ की गाथा १२ व १३ में बड़े बलपूर्वक संयमित आत्माओं को लक्ष्य कर फरमाया है-''किं मे परो पासइ, किं व अप्पा किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।'' अर्थात् आत्मार्थी महाव्रतधारी को चाहे वह साधु या साध्वी, शांतचित्त से रात्रि के प्रथम व अंतिम प्रहर में अंतरात्मा की सूक्ष्मतम गहराई में डूब, एकांत में केवल अपने आप से वार्तालाप कर, यानी अंतरमन की गहराई में उतरकर एकाग्र हो, यह विचार अवश्य करना चाहिए कि मैं अपने गृहीत महाव्रतों, नियमोपनियमों, अभिग्रहों व संयमाचार की मर्यादाओं से कहीं किसी वक्त स्खलित तो नहीं हुआ हूँ अथवा वर्तमान में कुभाव कुविचार से स्खलना के दोष से ग्रसित तो नहीं हो रहा हूँ? वह यह विचार करे कि मेरी स्खलनाओं को गुरु भगवंत व मेरे अम्मापियरो श्रावक-श्राविका वर्ग किस दृष्टि से देख रहे हैं। अन्तरनिरीक्षण द्वारा मैं स्वयं ही अपनी स्खलनाओं, दोषों, पापयुक्त या आसक्तियुक्त प्रवृत्ति से, अंतरमन से, शुद्ध हृदय से आलोचना, निंदना व गर्हणा कर अपने को तुरंत दोषमुक्त कर निर्मल संयमाचार की पालना में सन्नद्ध हो जाऊँ। आत्म-निरीक्षण आत्म-अनुशासन है। संयमी आत्मा के लिए जरा सी भी स्खलना संयमभ्रष्ट होने का मार्ग प्रशस्त करती है। अतः संत-मुनिराज व महासतियाँ जी का तो और अधिक उत्तरदायित्व व कर्त्तव्य है कि वे दोषों व स्खलनाओं को तुरन्त शुद्ध व सरलमन से प्रकट कर, प्रायश्चित्त का दंड प्राप्त कर, अपने संयमी जीवन को बेदाग, निर्मल, पावन व पवित्र बनावें। संयमी प्रतिक्रमण का यही मर्म है।

इस समस्त विवेचन का सारभूत तत्त्व यही है कि साधुगण हो या साध्वीवृंद, श्रावक हों या श्राविका, प्रतिक्रमण शुद्ध मन से, मन की सारी गाँठें खोलकर सरल मन से करने पर ही आत्मशुद्धि संभव है। यह अपने द्वारा अपनी आत्मशुद्धि का प्रकल्प है जिसमें औपचारिकता या मात्र क्रिया-कांड का विशेष महत्त्व नहीं होता। प्रतिक्रमण का मर्म है सरलमन से, प्रायश्चित्त के शुद्ध भाव से आत्मा को दोषमुक्त, निर्मल, पवित्र व पावन बनाना।

-पूर्व न्यायाधिपति, राजस्थान उच्च न्यायालय

सिरेह-सदन, २०/३३, रेणुपथ, मानसरोवर, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org